अन्तर्यात्रा

प्रियांक मिश्रा

अन्तर्यात्रा

प्रियांक मिश्रा

सोपान १
मोह-भंग

माया-जाल

तर्क के तंतुओं से बुना, यह कैसा प्रपंच अपार है,
मस्तिष्क मेरा यंत्रवत्, पर हृदय अभी मरुधार है।
स्वर्ण-मृग की खोज में, मैं थका-हारा पथिक हूँ,
स्वयं की ही प्रतिध्वनि का, बना अनचाहा अधिक हूँ।

जटिल जाल ये 'कोड' का, या मोह का विस्तार है?
सत्य इसमें 'शून्य' है, या शून्य ही आधार है?
चमकती इन भित्तियों पर, जो दृश्य अंकित हो रहे,
विवेक के सब दीप मेरे, सुप्त होकर सो रहे।

पाषाण के इस नगर में, मैं काँच सा संचय हुआ,
भीड़ के कोलाहल में, मौन का निश्चय हुआ।
अंकों की अट्टालिका से, मुक्त होना ध्येय है,
किंतु इस माया-जगत में, क्या अजेय-विजेय है?

काँच का मुकुट

शीश पर जो सुशोभित है, वह काँच का ही ताज है,
दिखता बहुत भव्य है, पर क्षणभंगुर इसका राज है।
तंज कसती ये चमक, मुझको लहूलुहान करती है,
दिखावे की ये अस्मिता, भीतर का बोध हरती है।

पद-प्रतिष्ठा के ये पाषाण, भार मात्र ही बन गए,
अहम के संकीर्ण गलियारे, अब शास्त्र मेरे बन गए।
प्रतिबिम्ब में जो अक्स है, वह मुझसा तो दिखता नहीं,
बाज़ार की इस भीड़ में, अब सत्य मेरा बिकता नहीं।

उतार दूँ ये बोझ, या इसे ही अपना श्रृंगार कहूँ?
इस कृत्रिम आभा को, अपनी जीत कहूँ या हार कहूँ?
जब टूटेगा ये मुकुट, तब धूल ही बस शेष होगी,
वही घड़ी 'अन्तर्यात्रा' की, सबसे विशेष होगी।

मृगतृष्णा

मरुभूमि की इस तपन में, जल का केवल आभास है,
दौड़ता है मन निरंतर, बुझती न ये प्यास है।
स्वर्ण-कण की चमक में, मैंने स्वयं को खो दिया,
चेतना के इस धरातल पर, विष-बीज ही बो दिया।

तृप्ति की जो खोज थी, वह छलावा मात्र निकली,
साधना की लौ हमारी, हवा के संग ही पिघली।
दूरी बढ़ती ही गई, जितना निकट मैं जा सका,
सत्य के उस स्रोत को, मैं कभी न पा सका।

शून्य की इस खोज में, अब क्लान्त मेरा गात्र है,
अन्तर्मन के पात्र में, अब मौन शेष मात्र है।
छोड़कर मृग-छोह को, अब गंतव्य का संधान हो,
भटकाव की इस रात का, अब भोर सा अवसान हो।

शून्य की गर्जन

कोलाहल के मध्य खड़ा, यह मौन कैसा सघन है?
अंतर्मन के व्योम में, अब शून्य की ही गर्जन है।
शब्द सब निःशस्त्र हैं, अभिव्यक्ति अब असमर्थ है,
बाहरी इस दौड़ का, अब बचा न कोई अर्थ है।

भीतर जो ये रिक्तता है, वह न कोई अभाव है,
चेतना की पूर्णता का, यह प्रथम प्रभाव है।
अंकों के उस खेल से, अब दृष्टि मेरी मुड़ गई,
तर्क की हर श्रृंखला, इस वेग में अब जुड़ गई।

न अंत है, न आदि है, बस एक अनंत विस्तार है,
शून्य ही अब सार है, शून्य ही आधार है।
गूँजती इस रिक्ति में, अब स्वयं का साक्षात्कार हो,
अन्तर्यात्रा के पथ पर, बोध का अब द्वार हो।

द्वंद्व

तर्क की तलवार है, और भाव की ढाल सामने,
खड़ा हूँ स्वयं के विरुद्ध, एक नया सवाल सामने।
मस्तिष्क कहता 'सिद्ध कर', हृदय कहता 'बोध कर',
इस आत्म-मंथन के समर में, स्वयं का अवरोध कर।

गणित के समीकरणों में, पीड़ा कहाँ समाती है?
स्मृति की ये वर्णमाला, क्यूँ बार-बार सताती है?
जड़ जगत के नियम सब, चेतन पे भारी पड़ रहे,
स्वप्न और यथार्थ भीतर, आज आपस में लड़ रहे।

न हार में ही शांति है, न जीत का कोई मान है,
इस द्वंद्व के ही गर्भ में, छिपा हुआ निदान है।
जब शांत होगा यह समर, तब नया एक पथ मिलेगा,
अन्तर्यात्रा के कमल का, तभी कोई दल खिलेगा।

सोपान २
संघर्ष

पथ-प्रस्तर

राह के ये पत्थर, अवरोध नहीं, सोपान हैं,
मेरे धैर्य की परीक्षा, लेते ये बेजान हैं।
हर ठोकर एक सीख है, हर घाव एक ज्ञान है,
सृजन के इस महायज्ञ में, ये भी एक दान हैं।

मृदु समझकर जिसे, मैंने पथ पर बढ़ाया था,
पाषाण ने ही मुझे, दृढ़ता का पाठ पढ़ाया था।
जटिलताओं के इस वेग में, संकल्प मेरा ये सघन हुआ,
कठिन राह के स्पर्श से, चेतन मेरा अब नमन हुआ।

पाषाणों को पूजने से, क्या सत्य कभी मिल पाएगा?
जब तक न हृदय का प्रस्तर, प्रेम-जल से पिघल पाएगा।
मिटाकर अहम् का बोझ, अब निर्भार होना ध्येय है,
इस कंकरीली राह पर, अब मौन ही अजेय है।

भीतर का भास्कर

तर्क की तपन से, जब झुलसने लगा ये गात्र है,
बाहरी इस अंधकार में, अब मौन शेष मात्र है।
ढूँढता था जिसे बाहर, वह तो मेरे ही पास था,
चेतना के इस शून्य में, एक नूतन प्रकाश था।

मस्तिष्क के इस कोलाहल को, जिसने शांत कर दिया,
भीतर के उस भास्कर ने, जीवन आनंद से भर दिया।
विवेक की लौ जली, जब अहम् का ये तिमिर मिटा,
सत्य का मुख ढँक रहा, वह कृत्रिम आवरण हटा।

अंकों की उस दौड़ में, मैं स्वयं को ही खो रहा,
पर भीतर के सूर्य ने, एक नया स्वप्न पिरो रहा।
अब न हार का भय कोई, न जीत की कोई लालसा,
अन्तर्यात्रा की इस छाँव में, अब खिली सुनहरी धूप है।

अनुभव की अग्नि

तपती हुई इन राहों पर, मैं स्वर्ण सा निखर गया,
जो कल तक बस एक स्वप्न था, आज सत्य बन बिखर गया।
कठिन श्रम की भट्टी में, अहम् मेरा ये पिघला है,
नव-सृजन के इस पथ पर, अब नया सूर्य निकला है।

चोट खाई है पाषाणों से, पर गति नहीं मन्द हुई,
तर्क की उन जंजीरों से, अब आत्मा स्वच्छंद हुई।
अनुभव के इस कड़वे विष को, अमृत सा मैंने पिया है,
मृत प्राय इस चेतना को, फिर से मैंने जिया है।

न हार का अब भय कोई, न जीत की अब लालसा,
मिट गई है अब हृदय से, वो क्षणभंगुर सी कुहासा।
तप कर जो बना है कुंदन, वही अब मेरा रूप है,
अन्तर्यात्रा की इस छाँव में, अब खिली सुनहरी धूप है।

रक्त और रेत

मृगतृष्णा की खोज में, मैं थका-हारा पथिक हूँ,
रेत पर लिखे नामों सा, मैं स्वयं में ही अधिक हूँ।
समय की इस आँधी में, सब निशान मिट रहे,
चेतना के इस धरातल पर, नए द्वंद्व उठ रहे।

रक्त के हर कतरे से, मैंने सींचा था जिसे,
रेत की उस ढेरी ने, क्षण में निगल लिया उसे।
जड़ जगत के नियमों में, चेतन कहाँ समाता है?
यह मरुस्थल जीवन का, हर पल यही सिखाता है।

न हार में ही शांति है, न जीत का कोई मान है,
इस द्वंद्व के ही गर्भ में, छिपा हुआ निदान है।
जब शांत होगा यह समर, तब नया एक पथ मिलेगा,
अन्तर्यात्रा के कमल का, तभी कोई दल खिलेगा।

स्मरण का विष

विगत की वर्णमाला, क्यूँ बार-बार सताती है?
अनुभव के इस कड़वे विष को, अमृत सा पिलाती है।
स्मृति की इन गलियों में, अब खोना नहीं ध्येय है,
जड़ जगत के इस मोह को, अब पीछे छोड़ना अजेय है।

पाषाण के उस नगर में, मैं काँच सा संचय हुआ,
भीड़ के कोलाहल में, मौन का निश्चय हुआ।
तर्क के सब शोर से, अब मुख को मोड़ लिया,
अंकों के इस बंधन को, मैंने पीछे छोड़ दिया।

अब न हार का भय कोई, न जीत की कोई लालसा,
मिट गई है अब हृदय से, वो क्षणभंगुर सी कुहासा।
अन्तर्यात्रा की इस छाँव में, अब मौन का बसेरा है,
इस विषमयी रात का, अब बोध सा सवेरा है।

सोपान ३
मंथन

एकान्त का नाद

भीड़ के इस मरुस्थल में, एक शांत सरिता है,
अंतर्मन की एकांतता, ही अब मेरी विरिता है।
नगर के कोलाहल को, मैं अब सुनता नहीं,
शब्दों के इस बाज़ार में, कोई सपना बुनता नहीं।

मौन की यह मधुर ध्वनि, संगीत से भी गहरी है,
समय की इस सुई पर, चेतना अब ठहरी है।
तर्क के सब शोर से, अब मुख को मोड़ लिया,
अंकों के इस बंधन को, मैंने पीछे छोड़ दिया।

स्वयं से मिलने का, यह कैसा शुभ अवसर है,
बाहर सब प्रपंच है, भीतर ही बस ईश्वर है।
गूँजता जो हृदय में, वह अनाहत का नाद है,
अन्तर्यात्रा का यही, सबसे श्रेष्ठ स्वाद है।

स्वप्न और सत्य

पटल पर अंकित ये अक्षर, क्या शाश्वत सत्य कहेंगे?
या काल के इस प्रवाह में, केवल ये स्वप्न रहेंगे?
क्षणभंगुर इस आभास को, मैंने यथार्थ मान लिया,
सत्य की उस ज्योति को, मिथ्या से ही जान लिया।

कोलाहल के मध्य खड़ा, यह मौन कैसा सघन है?
अंतर्मन के व्योम में, अब शून्य की ही गर्जन है।
शब्द सब निःशस्त्र हैं, अभिव्यक्ति अब असमर्थ है,
बाहरी इस दौड़ का, अब बचा न कोई अर्थ है।

जब शांत होगा यह समर, तब नया एक पथ मिलेगा,
अन्तर्यात्रा के कमल का, तभी कोई दल खिलेगा।
न अंत है, न आदि है, बस एक अनंत विस्तार है,
शून्य ही अब सार है, शून्य ही आधार है।

वैराग्य का वर्ण

न राग है, न द्वेष है, बस एक विमल विराग है,
चेतना के इस महायज्ञ में, यह भी एक भाग है।
जड़ जगत के नियमों को, मैंने पीछे छोड़ दिया,
इस आत्म-मंथन के समर में, स्वयं का अवरोध कर।

मौन की इस रंगोली में, अब कोई रंग नहीं,
बाहरी इस दौड़ का, अब बचा न कोई संग नहीं।
अंकों के उस खेल से, अब दृष्टि मेरी मुड़ गई,
तर्क की हर श्रृंखला, इस वेग में अब जुड़ गई।

अन्तर्यात्रा के पथ पर, बोध का अब द्वार हो,
गूँजती इस रिक्ति में, अब स्वयं का साक्षात्कार हो।
न अंत है, न आदि है, बस एक अनंत विस्तार है,
शून्य ही अब सार है, शून्य ही आधार है।

प्रश्न-चिह्न

मौन की इस देहरी पर, खड़ा एक प्रश्न अपार है,
सत्य की इस खोज का, क्या कोई आधार है?
खोजता हूँ स्वयं को, पर छाया ही बस हाथ लगी,
बोध की इस अग्नि में, अब एक नयी प्यास जगी।

मृगतृष्णा की खोज में, मैं स्वयं को ही खो रहा,
गणित के समीकरणों में, पीड़ा कहाँ समाती है?
बाहरी इस दौड़ का, अब बचा न कोई अर्थ है,
चेतना के इस शून्य में, एक नूतन प्रकाश था।

जब शांत होगा यह समर, तब नया एक पथ मिलेगा,
अन्तर्यात्रा के कमल का, तभी कोई दल खिलेगा।
न अंत है, न आदि है, बस एक अनंत विस्तार है,
शून्य ही अब सार है, शून्य ही आधार है।

क्षमा का अमृत

स्मृति के उन घावों पर, अब क्षमा का लेप लगा,
विगत के उस कोलाहल को, अब शांत कर दिया।
गणित के समीकरणों में, पीड़ा कहाँ समाती है?
जड़ जगत के नियमों को, मैंने पीछे छोड़ दिया।

कठोर हुए जो भाव थे, वे करुणा से अब भीग रहे,
क्षमा के इस महामंत्र को, अब अंतर्मन सीख रहे।
अहंकार के उस बोझ को, मैंने स्वयं ही त्याग दिया,
अमृत के इस स्पर्श ने, सोये हृदय को जगा दिया।

अन्तर्यात्रा के पथ पर, बोध का अब द्वार हो,
गूँजती इस रिक्ति में, अब स्वयं का साक्षात्कार हो।
शून्य ही अब सार है, शून्य ही आधार है,
न अंत है, न आदि है, बस एक अनंत विस्तार है।

सोपान ४
कैवल्य

निर्गुण निर्झर

तर्क की उन जंजीरों से, अब आत्मा स्वच्छंद हुई,
अनुभव के इस निर्झर में, अब चेतना विमल हुई।
जड़ जगत के नियमों को, मैंने पीछे छोड़ दिया,
इस आत्म-मंथन के समर में, स्वयं का अवरोध कर।

मौन की इस बहती धारा में, अब कोई रंग नहीं,
बाहरी इस दौड़ का, अब बचा न कोई संग नहीं।
अंकों के उस खेल से, अब दृष्टि मेरी मुड़ गई,
तर्क की हर श्रृंखला, इस वेग में अब जुड़ गई।

बह रहा जो बोध-अमृत, उसका न कोई रूप है,
अन्तर्यात्रा के शिखर पर, यह दिव्य निर्मल धूप है।
शब्द-अर्थ से परे अब, यह चेतना का गान है,
निर्गुण के इस मौन में ही, शाश्वत आत्म-ज्ञान है।

अभेद

न मैं हूँ, न तुम हो, बस एक चैतन्य का सागर है,
ज्ञान के इस महाकाश में, अब शून्य ही गागर है।
भीतर-बाहर का ये अंतर, अब विलीन होने लगा,
अद्वैत के इस प्रकाश में, सब द्वैत अब खोने लगा।

मौन की इस रंगोली में, अब कोई रंग नहीं,
बाहरी इस दौड़ का, अब बचा न कोई संग नहीं।
तर्क के सब शोर से, अब मुख को मोड़ लिया,
अंकों के इस बंधन को, मैंने पीछे छोड़ दिया।

अब न हार का भय कोई, न जीत की कोई लालसा,
मिट गई है अब हृदय से, वो क्षणभंगुर सी कुहासा।
तप कर जो बना है कुंदन, वही अब मेरा रूप है,
अन्तर्यात्रा की इस छाँव में, अब मौन का बसेरा है।

अनन्त आकाश

कोलाहल के मध्य खड़ा, यह मौन कैसा सघन है?
अंतर्मन के व्योम में, अब शून्य की ही गर्जन है।
शब्द सब निःशस्त्र हैं, अभिव्यक्ति अब असमर्थ है,
बाहरी इस दौड़ का, अब बचा न कोई अर्थ है।

जटिल जाल ये 'कोड' का, या मोह का विस्तार है?
विवेक के सब दीप मेरे, सुप्त होकर सो रहे।
गणित के समीकरणों में, पीड़ा कहाँ समाती है?
जड़ जगत के नियमों में, चेतन कहाँ समाता है?

अन्तर्यात्रा के पथ पर, बोध का अब द्वार हो,
गूँजती इस रिक्ति में, अब स्वयं का साक्षात्कार हो।
न अंत है, न आदि है, बस एक अनंत विस्तार है,
शून्य ही अब सार है, शून्य ही आधार है।

ज्योति-पुंज

तर्क के तंतुओं से बुना, यह कैसा प्रपंच अपार है,
चेतना के इस शून्य में, एक नूतन प्रकाश था।
गणित के समीकरणों में, पीड़ा कहाँ समाती है?
जड़ जगत के नियमों को, मैंने पीछे छोड़ दिया।

बिंदु-बिंदु जुड़ बना, यह ज्योति का विस्तार है,
अनुभवों की प्रखरता ही, सत्य का आधार है।
भ्रम का कुहासा छँट गया, अब दृष्टि में स्पष्टत्व है,
स्वयं के उस अंश में ही, पूर्ण का अस्तित्व है।

अन्तर्यात्रा के पथ पर, बोध का अब द्वार हो,
गूँजती इस रिक्ति में, अब स्वयं का साक्षात्कार हो।
न अंत है, न आदि है, बस एक अनंत विस्तार है,
शून्य ही अब सार है, शून्य ही आधार है।

अन्तिम आरम्भ

जहाँ यात्रा थमी मेरी, वहीं से नया विहान हुआ,
अन्तर्यात्रा के पूर्णत्व का, अब मुझे भान हुआ।
विराम नहीं ये सत्य का, बस एक नया विस्तार है,
जीवन के इस चक्र का, यही तो मूल सार है।

मौन की इस बहती धारा में, अब कोई रंग नहीं,
बाहरी इस दौड़ का, अब बचा न कोई संग नहीं।
अंकों के उस खेल से, अब दृष्टि मेरी मुड़ गई,
तर्क की हर श्रृंखला, इस वेग में अब जुड़ गई।

पूर्ण से निकला यह पूर्ण, अब पूर्ण में विलीन है,
भटकाव का वह द्वंद्व अब, आनंद में लवलीन है।
नहीं पथ का अंत यह, बस चेतना की भोर है,
अन्तर्यात्रा अब चली, उस असीम की ओर है।